सन्मति साहित्य रत्नमाला रत्न

कल्याण-मन्दिर स्तोत्र

—०—

लेखक—

श्रद्धेय जैनाचार्य पूज्य श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज के
सुशिष्य कवि रत्न, उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी

प्रकाशक—

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

प्रकाशक—

सन्मति ज्ञान—पीठ

लोहा मंडी, आगरा

प्रथम-प्रवेश
२००३

मूल्य
॥)

मुद्रक—

जयन्ती प्रिंटिंग प्रेस

जामा मस्जिद, दिल्ली

साधुता, सरलता एवं स्नेह - सद्भावना

के

उज्ज्वल प्रतीक

श्रद्धेय गणी श्री श्यामलाल जी महाराज

के

पावन कर-कमलों में

सभक्ति भाव

समर्पित

दिल्ली

—अमर मुनि

प्रकाशकीय आभार

श्री लक्ष्मणदास पारस दास जैन, लोहा मंडी, आगरा की आर्थिक सहायता से कल्याण-मंदिर स्तोत्र का प्रकाशन हो रहा है। पारस दास जी एक उत्साही जैन युवक हैं, धार्मिक और सामाजिक कार्यों में आप का उत्साहप्रद हाथ स्वभाव वश ही सहायक होता है। सन्मति ज्ञान-पीठ आप की उदारता के लिए आभारी है, और यह आशा करता है कि भविष्य में भी ऐसे शुभ कार्यों में उनका सहयोग मिलता रहेगा।

कल्याण-मंदिर स्तोत्र के लिए कुछ विशेष कहना सूर्य को दीपक दिखाना है। जैन-जगत के संमान्य विद्वान उपाध्याय श्री जी की टीका—व्याख्या से संवलित होकर पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है।

हमें विश्वास है, प्रस्तुत पुस्तक से श्रद्धालु भक्तों को ही नहीं, साहित्यक रुचि के विद्वानों को भी, संतोष होगा।

—रतनलाल जैन मीतल

मंत्री—

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

दो बोल

यह कल्याण-मन्दिर स्तोत्र है। 'कल्याण-मन्दिर' में भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति बड़ी ही भक्ति-पूर्ण भाषा में की गई है। इसका प्रत्येक पद्य कविता की ऊँची उड़ान में रचा गया है, और एक भक्त का हृदय प्रभु के चरणों में अपनी हृदय की मधुर भावनाओं को किस प्रकार व्यक्त कर सकता है, यह बहुत सुन्दर ढंग से दर्शाया गया है।

कल्याण-मन्दिर श्री पार्श्वनाथ जी का स्तोत्र है। अतः इसका नाम पार्श्व-स्तोत्र होना चाहिए था; परन्तु वह न होकर कल्याण-मन्दिर नाम क्यों पड़ा? उत्तर में कहना है कि भक्तामर स्तोत्र के समान ही इसका नाम भी प्रारम्भ के अक्षरों पर से पड़ा है। श्री अनुयोग द्वार सूत्र में इस प्रकार के आदि अक्षरों से प्रचलित नामों का उल्लेख किया गया है। कल्याण-मन्दिर नाम मंगल वाचक भी है। कल्याण-मन्दिर अर्थात्—कल्याण का मन्दिर=धाम, कितना सुन्दर नाम है?

कल्याण मन्दिर स्तोत्र के ४४ पद्य हैं। प्रारम्भ के ४३ श्लोक वसन्त तिलका छन्द में हैं, और अन्तिम श्लोक आर्या छन्द में। संस्कृत साहित्य में दोनों ही छन्द बड़े मधुर और सरस माने जाते हैं। स्तोत्र की रचना छन्द, अलंकार, भाषा और

भाव आदि सभी दृष्टि से चमत्कार पूर्ण है। विरोधाभास अलंकार का चमत्कार तो देखने ही लायक है।

कल्याण-मन्दिर के निर्माता आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर हैं। दिवाकर जी जैन-दर्शन साहित्य के वस्तुतः दिवाकर ही हैं। जैन-साहित्य को समृद्ध बनाने में आपका बहुत बड़ा भाग रहा है। सन्मतितर्क का निर्माण कर आपने जैन-दर्शन साहित्य के गौरव को हिमालय के ऊँचे शिखरों से भी ऊंचा कर दिया है। सन्मतितर्क के तीक्ष्ण तर्क आपकी विलक्षण प्रतिभा के निर्देशक हैं। स्तोत्र-साहित्य में कल्याण-मन्दिर की भेंट भी अतीव अनुपम है। भक्ति के साथ-साथ दर्शन का चमत्कार भी पाठक को आनन्द विभोर करता रहता है।

दिल्ली निवासी श्री निरंजनसिंह जी और आगरा निवासी श्री पार्श्व कुमार जी बहुत दिनों से मुझे साग्रह प्रेरित कर रहे थे कि 'मैं कल्याण-मन्दिर स्तोत्र का एक भाववाही हिंदी अनुवाद लिख दूँ।' मैं स्वयं भी प्रारम्भ से ही कल्याण-मन्दिर स्तोत्र से बहुत प्रभावित रहा हूँ। आचार्य सिद्धसेन की यह अमर कृति वस्तुतः है भी अतीव सुन्दर। मैंने संस्कृत भाषा का परिचय पाते ही ज्यों ही इसे पढ़ा, त्यों ही आनन्द-विभोर हो गया। अतएव मैं विचारता था कि यदि कभी अवसर मिले तो इस पर कुछ लिखने का प्रयत्न करूँ।

कल्याण-मन्दिर स्तोत्र बहुत गूढ़ एवं गंभीर है। इस पर सहज ही कुछ लिखना, दुःसाहस है। किसी भी गम्भीर संस्कृत-रचना पर, आज हिन्दी में कुछ लिखने के लिए, प्राचीन संस्कृत-टीकाएँ अतीव आवश्यक हैं। अतः मैंने बहुत चाहा कि कोई संस्कृत-टीका मिल जाय तो ज़रा सुविधा रहे, परन्तु दुर्भाग्य से कोई भी टीका न मिली। अतः जो लिखा है, अपनी धारणा के अनुसार ही लिखा है। सम्भव है, कहीं स्खलना हुई हो। सहृदय पाठक सूचना देंगे तो अच्छा होगा।

दिल्ली
सं० २००३
दीपमालिका

अमर मुनि

कल्याण-मंदिर स्तोत्र

कल्याण मन्दिर स्तोत्र

—०—

कल्याण – मन्दिरमुदारमवद्य–भेदि,
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रि – पद्मम् ।
संसार–सागर-–निमज्जदशेष–जन्तु—
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥ १ ॥

यस्य स्वयं सुर — गुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम् ।
तीर्थेश्वरस्य कमठ–स्मय–धूमकेतो—
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥ २ ॥
[युग्मम्]

कल्याण के मन्दिर= धाम, उदार = महान्, पाप के नाश करने वाले, सांसारिक दु:खों के भय से आकुल प्राणियों को अभय प्रदान करने वाले, अनिन्दित= प्रशंसनीय, संसार रूपी सागर में डूबते हुए सब जीवों को जहाज के समान आधारभूत, श्री जिनेश्वर देव के चरण कमलों को भली भांति प्रणाम कर के—

जो कमठ दैत्य के अभिमान को भस्म करने के लिए धूमकेतु के समान थे, जो गुण गरिमा के अपार सागर थे, जिन की स्तुति करने के लिए अतिशय बुद्धि शाली देवताओं का गुरु स्वयं वृहस्पति भी समर्थ नहीं हो सका, आश्चर्य है– उन तीर्थपति श्री पार्श्व नाथ भगवान् की मैं स्तुति करूँगा।

टिप्पणी

भगवान् पार्श्वनाथ जैन-धर्म के २३ वें तीर्थंकर हैं। भगवान जब राजकुमार थे तो एक बार उस युग के बहुत बड़े कर्म-काण्डी तपस्वी कमठ को अहिंसाधर्म का उपदेश दिया था और उस की धूनी में से जलते हुए नाग–नागिनी को बचाया था। वह तपस्वी इस पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और भगवान् से द्वेष रखने लगा। मर कर मेघमाली देव हुआ। इधर भगवान् ने राज्य त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की और वन में साधना करने लगे। कमठ देव ने वहाँ भगवान को वर्षा आदि का बहुत कष्ट दिया, परन्तु भगवान् अटल अचल रहे। आखिर आध्यात्मिक बल के आगे पशु बल की हार हुई, और कमठ चरणों में आ गिरा। 'कमठस्मय धूमकेतोः' पद से आचार्य ने उसी घटना को ओर संकेत किया है।

धूमकेतु एक कुग्रह होता है। जबव ह उदय होता है, तो संसार में सर्वनाश के दृश्य पैदा कर देता है। कमठ के मिथ्या-

अभिमान के लिए भगवान् वस्तुतः धूम केतु ही थे। कमठ तो पाखण्ड का एक प्रतिनिधि है, अतः उपलक्षण से पाखण्ड मात्र को नष्ट करने के लिए भगवान् धूम केतु के रूप में उस समय उदय हुए थे। धूमकेतु का दूसरा अर्थ अग्नि भी होता है, क्यों कि धूम = धुँवा और केतु = ध्वजा, यानी धुँवे की ध्वजा वाली अग्नि। यह अर्थ भी ठीक है। भगवान् पाखण्ड को भस्म करने के लिए अग्नि के समान थे।

देवताओं का गुरु वृहस्पति कितना अधिक बुद्धिमान होता है ? जब वह भी भगवान की स्तुति पूर्ण रूप से नहीं कर सका तो भला मैं तुच्छ बुद्धि क्या स्तुति कर सकता हूँ ? –इस प्रकार आचार्य अपनी लघुता और भगवान् की महत्ता सूचित करते हैं।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप–
मस्मादृशाः कथमधीश ! भवन्त्यधीशाः।
धृष्टोऽपि कौशिक–शिशुर्यदिवा दिवान्धो,
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ? ॥ ३ ॥

हे नाथ ! आप के अनन्त महामहिम स्वरूप को, साधारण रूप से भी वर्णन करने के लिए हमारे जैसे पामर जीव किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं ?

दिन में अन्धा बन कर समय गुजार ने वाला उल्लू का पुत्र, कितना ही क्यों न चतुरता का अभिमानी ढ़ीट हो; परन्तु क्या

वह प्रचण्ड किरणों वाले सूर्य के उज्ज्वल स्वरूप का कुछ निरूपण कर सकता है ? नहीं कर सकता।

टिप्पणी

आचार्य ने उल्लू के बच्चे का उदाहरण बड़ा ही जोरदार दिया है। उल्लू खुद ही दिन में अन्धा रहता है और फिर उस के बच्चे की अन्धता का तो कहना ही क्या है ! अस्तु उल्लू का बच्चा यदि सूर्य के रूप का अधिक तो क्या, कुछ भी वर्णन करना चाहे तो क्या कर सकता है ? नहीं कर सकता। जन्म धारण कर जिसने कभी सूर्य को देखा ही न हो, वह सूर्य का क्या खाक वर्णन करेगा ? आचार्य कहते हैं कि भगवन् ! मैं भी मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार से अन्धा हो कर आप के दर्शन से वंचित रहा हूँ, अतः अनन्त ज्योतिर्मय आप के स्वरूप का भला क्या वर्णन कर सकता हूँ ? आप ज्ञान-सूर्य और मैं अज्ञानान्ध उलूक ! दोनों का क्या मेल ?

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ ! मर्त्यो,
नूनं गुणान् गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा--
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ? ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! मोहनीय कर्म को क्षय कर देने के बाद केवल-ज्ञान की भूमिका पर पहुँचा हुआ महा पुरुष, निश्चय ही आप

के गुणों को जान तो लेता है; परन्तु उनका पूर्ण रूप से वर्णन तो वह भी नहीं कर सकता।

प्रलय काल में पानी के न होने पर समुद्र की रत्नराशि स्पष्ट रूप से दिखाई तो देने लगती है, परन्तु क्या कोई उनकी गिनती भी कर सकता है ?—नहीं कर सकता।

टिप्पणी

पहले के श्लोक में बताया गया था कि जिसने भगवान् के दर्शन नहीं किए, वह भगवान् का क्या स्वरूप बता सकता है ? इस पर प्रश्न हो सकता है-कि तुम नहीं बता सकते तो केवल-ज्ञानी तो बता सकते होंगे ? वे तो मोह-कर्म को क्षय करने के बाद उत्पन्न होने वाले केवल ज्ञान से सब कुछ जान-देख सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत पद्य में दिया गया है कि केवल ज्ञानी भी भगवान के स्वरूप का पूर्ण रूप से वर्णन नहीं कर सकते ! जानना एक बात है, और वर्णन करना दूसरी बात। केवल ज्ञानी अनन्त गुणों को जान तो लेते हैं, परन्तु अनन्त का वर्णन तो संभव नहीं। अनन्त गुण, शब्दों के घेरे में नहीं आ सकते ! अस्तु, भगवान सदा अवर्णनीय ही रहते हैं।

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ ! जडाशयोऽपि,
कर्तुं स्तवं लसदसंख्य-गुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य,
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः ? ॥ ५ ॥

हे नाथ ! यह ठीक है कि मैं जडबुद्धि हूँ, और आप अनन्त उज्ज्वल गुणों के आकर=खान हैं। तथापि मैं प्रेम-वश आप की स्तुति करने के लिए तैयार हो ही गया हूँ।

यह ठीक है कि-समुद्र विशाल है और बालक के हाथ बहुत छोटे हैं। फिर भी क्या बालक अपने नन्हे-नन्हे हाथों को फैला कर, अपनी कल्पना के अनुसार, समुद्र के विस्तार का वर्णन नहीं करता ? अवश्य करता है।

टिप्पणी

प्रश्न हो सकता है, जब भगवान के अनन्त गुणों का केवल ज्ञानी भी वर्णन नहीं कर सकते तो फिर तुम तो चीज ही क्या हो ? क्यों व्यर्थ ही अस्थाने प्रयास कर रहे हो ? आचार्य ने प्रस्तुत पद्य में इसी प्रश्न का उत्तर दिया है, और दिया है बहुत मनोहर !

कोई छोटा बालक समुद्र देख आया। लोग पूछते हैं–'कहो भई, समुद्र कितना बड़ा है ?' बालक झट नन्हे-नन्हे हाथ फैला कर कहता है–'इतना बड़ा।' बालक का यह वर्णन, क्या समुद्र का वर्णन है ? नहीं। फिर भी बालक अपनी कल्पना के अनुसार महातिमहान को अणु बनाकर वर्णन करता है, और पूछने वाले प्रसन्न होते हैं। आचार्य कहते हैं कि ठीक इसी प्रकार यह मेरा भगवद्गुणों के वर्णन का प्रयास है। जैसा कुछ आता है

कल्पना दौड़ाता हूँ, चुप नहीं बैठ सकता। यह मेरा बाल-प्रयास भक्त जनता को कुछ न कुछ आमोद प्रदान करेगा ही।

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश !
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ?
जाता तदेवमसमीक्षित-कारितेयं,
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥ ६ ॥

हे जगत के स्वामी ! जब कि आपके गुणों का यथार्थ रूप से वर्णन करने में बड़े-बड़े प्रसिद्ध योगी भी समर्थ नहीं हो सकते हैं, तब भला मेरी तो शक्ति ही क्या है ? यह स्तुति का कार्य, मैंने विना विचारे ही शुरू कर दिया है। वस्तुतः यह कार्य मेरी पहुँच के बाहर का है।

अरे मैं हताश क्यों होता हूँ ? शक्ति नहीं तो क्या है, यथा-शक्य प्रयत्न तो करूँगा। पक्षियों को मनुष्य की भाषा में बोलना नहीं आता है, तो क्या हुआ ? वे अपनी अस्पष्ट भाषामें ही बोल कर काम चला लेते हैं।

टिप्पणी

आचार्य ने अपने को पक्षी की उपमा देकर लघुता प्रदर्शन में कमाल कर दिया है। कितना गंभीर दार्शनिक आचार्य और

कितना अधिक विनम्र ! इस विनम्रता पर हर कोई भक्त बलिहार हो जायगा ! 'जिस प्रकार पक्षी अपनी अव्यक्त भाषा में ही चूँ-चाँ कर के अपने मनोगत भावों को व्यक्त करता है, उसी प्रकार मैं भी, जैसा मुझे आता है, बोल कर अपने भक्तिमय मनोगत भावों को यथा शक्ति शब्दों का रूप देने के लिए प्रयत्न करता हूँ'—आचार्य का यह कथन अत्यन्त ही हृदय-स्पर्शी है।

प्रस्तुत पद्य का भावार्थ शब्द प्रधान न कर के भाव-प्रधान किया है। आशा है-आचार्य के गंभीर भावों को समझने में इस पद्धति से पाठकों को कुछ सहायता मिलेगी !

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहत-पान्थ – जनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७ ॥

हे राग-द्वेष के विजेता जिन ! आपके अचिन्त्य महिमा वाले स्तवन के महत्त्व का तो कहना ही क्या है, यहाँ तो केवल आप का नाम भी त्रिभुवन के प्राणियों को दुःख से बचा सकता है।

गर्मी के दिनों में भयंकर धूप से व्याकुल हुए मुसाफिरों को आनन्द प्रदान करने वाले कमल-सरोवर का तो कहना ही क्या है; उसकी केवल ठंढी हवा ही उन्हें हरा-भरा बना देती है।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोः क्षणेन निबिड़ा अपि कर्म–बन्धाः ।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग—
मभ्यागते वनशिखंडिनि चन्दनस्य ॥ ८ ॥

हे प्रभो! जब आप ध्यान शील भक्त के हृदय में विराजमान हो जाते हैं, तो उसके भयंकर से भयंकर मजबूत कर्म-बन्धन भी तत्काल ही शिथिल हो जाते हैं, ढीले पड़ जाते हैं ।

वन-मयूर ज्यों ही चन्दन वृक्ष की ओर आता है, त्यों ही चंदन पर लिपटे रहने वाले भयंकर सर्प सहसा शिथिल हो जाते हैं–भागने लगते हैं । मोर के सामने सांप ठहर नहीं सकता ।

टिप्पणी

कविप्रसिद्धि है कि चंदन के वृक्ष पर सांप लिपटे रहते हैं । चंदन और सांप ! बहुत बुरा मेल है । आत्मा भी चन्दन वृक्ष के समान है । उसमें सद्‌गुणों की बहुत उत्कृष्ट सुगन्ध है; परन्तु सब ओर कर्म रूपी काले नाग जहर उगल रहे हैं, आत्म - चंदन को दूषित कर रहे हैं । ज्यों ही भक्त भगवान् का ध्यान करता है, भगवान् को अपने मन-मंदिर में विराजमान करता है, त्यों ही कर्म सहसा शिथिल हो उसी प्रकार भागने लगते हैं, जिस प्रकार मोर के आने पर चन्दन पर के सांप ।

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र !
रौद्रै रुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गो-स्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे,
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥ ६ ॥

हे जिनेद्र ! आपके दर्शन-मात्र से भक्त जन सैकड़ों भयंकर उपद्रवों से शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं। आपके दर्शन और संकट ! मेल ही नहीं बैठता !

गांव के पशुओं को चोर रात्रि में चुरा ले जाते हैं, परन्तु ज्यों ही बलवान तेजस्वी ग्वाला दिखाई देता है, त्यों ही पशुओं को छोड़ कर वे झट-पट भाग खड़े होते हैं। मालिक के सामने चोर कहीं ठहर सकते हैं ?

टिप्पणी

मनुष्य संकटों से तभी तक घिरा रहता है, जब तक कि वह भगवान् के श्री चरणों में अपने आपको अर्पण नहीं करता है, प्रभु के दर्शन नहीं करता है। भगवान् का ध्यान करते हो सब संकट चकनाचूर हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में चोरों का उदाहरण बहुत सुन्दर दिया गया है।

'गोस्वामी' का अर्थ है—'गो का स्वामी।' गो का अर्थ किरण भी होता है, अतः किरणों के स्वामी सूर्य के उदय होते ही चोर भाग

जाते हैं, यह अर्थ भी लिया जाता है। गो का अर्थ पृथ्वी है, अतः पृथ्वी के स्वामी राजाको देखतेही चोर भागने लगते हैं, यह अर्थ भी प्रकरण संगत है। गो का अर्थ गाय भी है, अतः गो स्वामी ग्वाला भी होता है। यह अर्थ भावार्थ में लिखा जा चुका है।

त्वां तारको जिन ! कथं भविनां तएव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून—
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥१०॥

हे जिनेश्वर देव ! आप भव्य जीवों को संसार सागर से पार उतारने वाले तारक कैसे बन सकते हैं? क्योंकि भव्य जीव जब संसार-सागर से पार उतरते हैं, तब वे ही आपको अपने हृदय में धारण करते हैं, आप उनको कहाँ धारण करते हैं?

हाँ, ठीक है-समझ में आ गया। पवन से भरी हुई चमड़े की मशाक जब जल में तैरती है, तब वह अन्दर रहे हुए पवन के प्रभाव से ही तो तैरती है, स्वयं कहां तैरती है?

टिप्पणी

प्रायः देखा जाता है कि अपने अन्दर रहे हुए यात्री को धारण करके नौका ही पार उतारती है, न कि अन्दर रहा हुआ

यात्री नौका को पार उतारता है। अस्तु, आचार्य इसी धारणा के आधार पर भगवान् से भक्तिपूर्ण ठिठोली करते हैं कि- 'आप हम भव्यों को कहाँ पार उतारते हैं, प्रत्युत हम ही आपको हृदय में धारण करते हैं, अतः पार उतारते हैं। जब हम आपका ध्यान करते हैं, तब आप तो हमारे मन में रहते हैं, बाहर कहाँ ? हम तैरने लगे तो झट हमारे अन्दर विराजमान हो गए। अतः सच्चे तारक तो हम हुए और यश लिया आपने।'

श्लोक के उत्तरार्द्ध में उक्तधारणा का बड़ा ही सुन्दर निराकरण किया है। मशक के अन्दर रही हवा मशक को पार उतारती है या बाहर रही हुई मशक अन्दर की हवा को ? किस खूबी से यह उदाहरण दिया है, कमाल है ! कभी - कभी अनोखे तारक अन्दर रह कर भी दूसरों को पार कर देते हैं।

यस्मिन् हर–प्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन,
पीतं न किं तदपि दुर्धर–वाडवेन ॥ ११ ॥

हे देव ! जिस कामदेव को विजय करने में सुप्रसिद्ध हरि-हर आदि देव भी हत प्रभ-पराजित हो गए, उसी त्रिभुवन-विजयी कामदेव को आपने क्षण भर में नष्ट कर दिया। महान् आश्चर्य है !

अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जो जल संसार के समस्त अग्नि-कांडों को बुझा कर शांत कर सकता है, उसी जल को क्या समुद्र का प्रचण्ड बडवानल नष्ट नहीं कर देता है? अवश्य कर देता है।

टिप्पणी

पौराणिक साहित्य में हजारों कहानिया हैं कि—हरि-हर आदि देवता किस प्रकार वासना के गुलाम थे और स्त्रियों के लिए ललचाये फिरते थे? महादेव जी के पास पार्वती थी तो विष्णु के पास लक्ष्मी! फिर भी कामाग्नि शान्त नहीं हो पाती थी। अस्तु, आचार्य आश्चर्य प्रगट करते हैं कि जिस काम के आवेश में सारा संसार व्याकुल है, उसको हे प्रभु! आपने क्षण भर में कैसे पराजित कर दिया? समुद्र के वडवानल का उदाहरण इस सम्बन्ध में बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। हमेशा जल अग्नि को नष्ट करता है, परन्तु समुद्र की वडवानल-अग्नि समुद्र के जल को ही भस्म करती है। महान् लोगों की महान् ही बातें हैं।

स्वामिन्ननल्प – गरिमाणमपि प्रपन्ना
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः?
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन,
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

हे प्रभो ! बड़े-भारी आश्चर्य की बात है कि अनन्तानन्त गरिमा = गुरुता वाले आपको, अपने हृदय में धारण करके भी भक्त जन बहुत हलके रहते हैं और संसार समुद्र को झट-पट पार कर जाते हैं। इतना भार उठाकर भी इतना हलकापन ! महान् अश्चर्य !

अथवा इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? महापुरुषों का प्रभाव सर्वथा अचिन्त्य होता है। [वे जो कुछ भी करके दिखादें, सब असम्भव भी संभव है। उनका प्रत्येक कार्य चमत्कारमय होता है, रहस्य पूर्ण होता है।]

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में बताया गया है कि भगवान् अनन्त गरिमा वाले हैं, फिर भी उनको हृदय में धारण कर भक्त जन बड़े हलके रहते हैं और शीघ्र ही संसार-सागर से पार हो जाते हैं।

यहाँ विरोधाभास अलंकार है। गरिमा का अर्थ भार = वजन होता है, हाँ तो जो भारी है, उसे धारण कर कोई कैसे हलका रह सकता है ? जिस नाव में भार हो, और वह भी अनन्त, भला वह हलकी रह कर कैसे झट-पट समुद्रको पार कर सकती है ?

विरोध-परिहार के लिए आचार्य जी ने यहाँ गरिमा का भार अर्थ न ले कर कुछ और हो अर्थ लिया है। वह यह कि 'भगवान् अनन्त गुणों के गौरव से यानी महिमा से युक्त हैं।'

गरिमा का अर्थ गौरव भी होता है। प्रथम अर्थ से विरोध आता है तो दूसरे अर्थ से उसका परिहार हो जाता है।

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्म-चौराः ?
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके,
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी ? ॥१३॥

हे प्रभो ! आपने क्रोध को तो पहले ही नष्ट कर दिया था तब फिर कर्म शत्रुओं को कैसे नष्ट किया ? क्योंकि विना रोष के भला कोई किसी को कैसे नष्ट कर सकता है ? नहीं कर सकता है।

अहो, मैं भूल रहा हूँ ! क्रोध की अपेक्षा क्षमा की शक्ति ही तो बहुत बड़ी है। आग की अपेक्षा बर्फ की शक्ति ही तो महान् है। हम देखते हैं कि जब शीतकाल में अत्यधिक शीत होने के कारण बिल्कुल ठण्डा हिम = पाला पड़ता है, तब हरे-भरे वृक्षों वाले सघन वन भी जल कर ध्वस्त हो जाते हैं।

टिप्पणी

संसार में देखा जाता है कि प्रायः क्रोधी मनुष्य ही अपने शत्रुओं का नाश करते हैं। जो लोग क्षमाशील होते हैं, उनसे किसी का कुछ भी अपकार नहीं होता। इसी बात को लेकर

आचार्य आश्चर्य करते हैं कि 'भगवन्! अपने क्रोध को तो बहुत पहले ही, आध्यात्मिक विकासक्रम के अनुसार नववें गुण स्थान में ही नष्ट कर दिया था, फिर क्रोध के अभाव में चौदहवें गुण स्थान तक के कर्मरूपी शत्रुओं को कैसे परास्त किया ?' परन्तु श्लोक के उत्तरार्द्ध में बर्फ का उदाहरण स्मृति में आते ही आश्चर्य का समाधान हो जाता है। बर्फ कितना अधिक ठंढा होता है; पर हरे-भरे वनों को किस प्रकार जलाकर नष्ट कर डालता है ? आग के जले हुए वृक्ष तो संभव है समय पाकर फिर भी हरे हो जायें, परन्तु हिम-दग्ध कभी भी हरे नहीं हो पाते। अस्तु—शीतल क्षमा की शक्ति ही महान् है।

त्वां योगिनो जिन ! सदा परमात्म—रूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुज – कोशदेशे ।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य संभवि पदं ननु कर्णिकायाः ॥ १४ ॥

हे जिन ! आप परमात्म स्वरूप हैं, कर्ममल से रहित शुद्ध अक्ष=आत्मस्वरूप हैं। अतएव बड़े-बड़े योगी लोग अपने हृदय कमल की कर्णिका में आप को खोजते हैं, आपका ध्यान करते हैं।

जिस प्रकार कमल के अक्ष=बीज का स्थान कमल की कर्णिका है, उसी प्रकार आप भी जब कर्म-मल से रहित होकर

पवित्र निर्मल कान्ति वाले अक्ष=परमात्मा बन गए तो आपका स्थान भी हृदय-कमल की कर्णिका को छोड़ कर अन्यत्र कहाँ हो सकता है ? अक्ष तो कमल की कर्णिका में ही मिलेगा न ?

टिप्पणी

प्रस्तुत पद्य में आचार्य प्रश्न उठाते हैं कि योगी लोग भगवान् का ध्यान हृदय कमल में क्यों करते हैं, वहाँ ही क्यों खोजते हैं ? कमल में तो अक्ष=कमलगटा रहता है, वहां भगवान् की खोज कैसी ? आचार्य श्री स्वयं उत्तर देते हैं कि भगवान भी तो अक्ष ही हैं, अतः योगी लोग समझते हैं कि वे भी कहीं न कहीं कमल में ही मिलेंगे। साधारण कमल में न मिलेंगे तो चलो हृदय-कमल में ही खोजें। आखिर अक्ष मिलेगा कमल में ही।

श्लोक में आये हुए 'अक्ष' शब्द के कमलगटा और आत्मा इस प्रकार दो अर्थ होते हैं।। अक्ष्णाति-जानाति इति अक्षः= आत्मा।

ध्यानाज्जिनेश ! भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्म-दशां व्रजन्ति।
तीव्रानला-दुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥ १५॥

हे जिनेन्द्र ! विशुद्ध हृदय से आपका ध्यान करने से, संसार के भव्य जीव, शीघ्र ही इस शरीर को छोड़ कर शुद्ध परमात्म-दशा को प्राप्त कर लेते हैं ।

संसार में हर कोई देख सकता है कि प्रचण्ड अग्नि का सम्पर्क पाते ही सुवर्ण धातु अपने पाषाण आदि पूर्व रूप को छोड़कर शीघ्र ही सुवर्णत्व-दशा को प्राप्त हो जाती है ।

टिप्पणी

भगवान् का ध्यान अतीव चमत्कारमय होता है । इहलोक और परलोक का वैभव तो क्या चीज है; भगवान का भक्त तो जन्ममरणके प्रतीक इस क्षण भंगुर शरीरका सदा के लिए परित्याग कर परमात्मा तक बनजाता है। यह हमारा शरीर आत्मा से नहीं पैदा हुआ है, कर्म से पैदा हुआ है। अतः ज्योंही भगवान् का ध्यान किया जाता है तो आत्मा का कर्म-मल जल कर दूर हो जाता है, शुद्ध आत्म-तत्त्व निखर जाता है, और आत्मा सदा के लिए अजर-अमर परमात्मा हो जाता है। यह जैन संस्कृति का ही आदर्श है कि यहां भक्त भी भगवान् का ध्यान करते-करते अन्तमें भगवान बन जाता है। कैसे बनजाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य श्री सुवर्ण का उदाहरण उपस्थित करते हैं। खान से सुवर्ण की धातु मिट्टी और पत्थर के रूप में बाहर आती है। फिर धधकती भट्टियों में जब उसे साफ करते

हैं तो मिट्टी-पत्थर अलग हो जाता है और सुवर्ण अलग। शुद्ध होने के लिये सुवर्ण को कितनी ही बार भट्टी में से गुजरना होता है, और अन्त में मल साफ होते-होते पूर्ण सौटंची सुवर्ण हो जाता है। टंच अग्नि-परीक्षा को कहते हैं। सौ बार अग्नि में परीक्षित होकर शुद्ध हुआ सुवर्ण सौटंची कहलाता है। हां, तो अध्यात्म पक्ष में भी आत्मा सुवर्ण है और उसमें कर्म-रूप मल है। भगवान का ध्यान प्रचण्ड अग्नि है। तीव्र ध्यानाग्नि का स्पर्श पाकर कर्म मल नष्ट हो जाता है, और आत्मा पूर्ण रूप से शुद्ध हो कर सदा के लिए परमात्मा बन जाता है।

अन्तः सदैव जिन ! यस्य विभाव्यसे त्वं,
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि,
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥ १६ ॥

हे जिनेन्द्र ! जिस शरीर के मध्यभाग=हृदय में भव्य प्राणी आपका निरन्तर ध्यान करते हैं, आश्चर्य है, आप उसी शरीर को नष्ट कर देते हैं ? यह क्या उलटी गति है, कुछ समझ नहीं पड़ती।

अथवा आप का यह कार्य सर्वथा उचित ही है। जब महा-पुरुष मध्यस्थ हो जाते हैं, बीच में पड़ जाते हैं, तो विग्रह (शरीर और कलह) को पूर्णतया समाप्त कर देते हैं।

टिप्पणी

"संसार में यह रीति प्रचलित है कि–जो जहाँ रहता है, अथवा जहाँ जिसका ध्यान सम्मान आदि किया जाता है, वह उस जगह का विनाश नहीं करता। परन्तु हे भगवन्! आप भव्य जीवों के जिस शरीर में हमेशा भक्तिभाव पूर्वक ध्यान रूप से चिन्तन किए जाते हैं, आप उन्हें उसी विग्रह=शरीर को नष्ट करने का उपदेश देते हैं। यह तो आप के लिए किसी तरह भी योग्य नहीं है।" भगवान् का उपदेश कर्म बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने का है।

आचार्य श्री को पहले इस लोक–विरुद्ध बात पर अतीव आश्चर्य होता है। परन्तु जब उनकी दृष्टि विग्रह शब्द पर जाती है, तब सहसा उनका आश्चर्य दूर हो जाता है। श्लोक में आए 'विग्रह' शब्द के दो अर्थ हैं–एक 'शरीर' और दूसरा 'द्वेष'। महा पुरुषों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जब वे मध्यविवर्ती होते हैं, तो वे विग्रह का नाश कर देते हैं। जब दो आदमी आपस में झगड़ते हैं, तब समझौता कराने के लिए कोई विशिष्ट पुरुष मध्यविवर्ती=मध्यस्थ होता है और विग्रह=कलह को शान्त करा देता है। विशिष्ट पुरुष विग्रह को सहन नहीं कर सकते। न स्वयं विग्रह रखते हैं और न किसी दूसरे को रखने देते हैं। शरीर भी विग्रह है, अतः उसे भी नहीं रहने देते।

मध्यविवर्ती शब्द के भी दो अर्थ हैं—मध्यस्थ = बीच में रहने वाला और मध्यस्थ = रागद्वेष से रहित वीतराग । भगवान् मध्यस्थ हैं, भक्तों के हृदय में भी रहते हैं और वीतराग भी हैं।

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या,
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृत–मित्यनुचिन्त्यमानं,
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १७ ॥

हे जिनेन्द्र ! जब अध्यात्म चेतना वाले मनीषी पुरुष अपने आत्मा का आप से अभेद रूप में अर्थात् परमात्म रूप में ध्यान करते हैं, तो उन का वह साधारण आत्मा भी आप–जैसा ही प्रभावशाली बन जाता है, परमात्मा हो जाता है ।

पानी को भी यदि सर्वथा अभेद बुद्धि से अमृत समझ कर उपयोग में लाया जाय तो क्या वह अमृत नहीं हो जाता है और विष विकार को दूर नहीं कर देता है ? अवश्य कर देता है ।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में शुद्ध निश्चय दृष्टि का उल्लेख किया गया है । जन धर्म निश्चय प्रधान धर्म है । वह संसार की समस्त आत्मा-

ओं को अन्त रंग ज्योति के रूप में भगवत्स्वरूप ही मानता है। जिन पद और निज पद में केवल व्यंजनों का परिवर्तन ही है, स्वर वे ही हैं। इसी प्रकार जो आत्मा निज है, वही जिन है। केवल कर्म पर्याय को बदल कर शुद्ध पर्याय में आना आवश्यक है। अस्तु,

आचार्य श्री कहते हैं—जो साधक अपने आप को आपसे अभिन्न अनुभव करता है- अपने आपको परमात्मस्वरूप समझता है, वह आपके समान ही शुद्ध हो जाता है; परम पवित्र परमात्मा बन जाता है। अतएव साधक को निरन्तर चिन्तन करना चाहिये कि 'भगवन्! जैसी परम पवित्र सर्वथा शुद्ध आत्मा आपकी है, ठीक वैसी ही मेरी आत्मा भी विशुद्ध है। निश्चय नयके विचार से आपमें और मुझमें अणु मात्र भी अंतर नहीं है। यह जो कुछ भी वर्तमान में अन्तर दिखाई देता है, यह सब अशुद्ध कर्मोदय के कारण से है। आप स्वभाव परिणति में हैं, अतः शुद्ध हैं। और मैं विभाव परिणति में हूँ, अतः अशुद्ध हूँ। परंतु यदि मैं आपके मार्ग पर चलने का प्रयत्न करूँ और विभाव परिणति का परित्याग कर स्वभाव परिणति को स्वीकार करूँ तो यह मेरी आज की अशुद्ध आत्मा भी शुद्ध हो जाय, जिन बन जाय।'

आचार्य श्री ने पानी को अमृत बनाने का उदाहरण बहुत ही मौलिक दिया है। जब कोई मंत्रवादी साधारण जल को भी मंत्र से अभिमंत्रित करके किसी विष ग्रस्त रोगीको प्रदान करता है

तो वह अमृत ही बन जाता है, विष विकार को दूर कर देता है। मंत्र की बात को भो दूर रखिए, यदि साधारण जल को भी अमृत बुद्धि से उपयोग में लाया जाय तो वह भी विष विकार को दूर कर देता है। भावना का आत्मा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शंखो
नो गृह्यते विविध--वर्ण-विपर्ययेण ॥१८॥

हे प्रभो ! दूसरे मतों के मानने वाले लोगों ने भी वीतराग देव सर्वज्ञ आप को ही अपने हरिहर आदि देवताओं के रूप में स्वीकार कर रखा है।

जिस मनुष्य को पीलिया रोग हो जाता है, क्या वह बिल्कुल स्वच्छ श्वेत वर्ण शंख को भी वर्ण विपर्यय के द्वारा नीला पीला आदि नहीं देखने लगता है ? अवश्य देखने लगता है।

टिप्पणी

आचार्य श्री कहते हैं कि 'हे भगवन् ! अखिल संसार में एक मात्र देव आप ही हैं, और कोई देव है हीं नहीं। दूसरे मताव लम्बी जो हरि-हर आदि देवताओं को मानते हैं, सो वे भी भ्रान्ति में है। आपही को हरि-हर आदि की बुद्धि से पूजते हैं,

आपही को यह हरि है, यह महादेव है इत्यादि रूप से मानते हैं। वस्तुतः हरि-हर आदि कोई देव नहीं हैं।'

प्रश्न होता है कि कहाँ वीतराग देव भगवान और कहाँ रागी द्वेषी हरिहर आदि देव ? भला वीतराग को रागी-द्वेषी रूप में कैसे मानने लगे! इतनी बड़ी भ्रान्ति कैसे हो गई!

आचार्य श्री उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार किसी मनुष्य को पीलिया रोग हो जाता है तो वह सफेद शंख को भी पीला ही समझता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से अन्य मतावलम्बी भी आपको हरि हर आदि रागी द्वेषी देवता के रूप में पूजते हैं। मिथ्यात्व का विकार बड़ा उग्र एवं भीषण होता।

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः ॥१९॥

हे प्रभो! जिस समय आप धर्मोपदेश करते हैं, उस समय आपके सत्संग के प्रभाव से वृक्ष भी अशोक हो जाता है, तब फिर मानव समाज के अशोक (शोक रहित) होने में तो आश्चर्य ही किस बात का ?

जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है; तब मानव समाज ही निद्रा त्याग कर प्रबुद्ध होता है—यह बात नहीं, अपितु कमल आदि समस्त जीवलोक ही प्रबुद्ध हो जाता है, विकस्वर हो जाता है।

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् जब धर्मोपदेश करते हैं, तब देवता अशोक-वृक्ष की रचना करते हैं और भगवान् उसके नीचे बैठते हैं। आचार्य श्री ने इसी भाव को कितने सुन्दर ढंग से वर्णन किया है !

प्रस्तुत श्लोक में आए हुए अशोक शब्द के दो अर्थ हैं—एक अशोक नामक वृक्ष और दूसरा शोक से रहित। इसी प्रकार विबोध शब्द के भी दो अर्थ हैं-एक जागना और दूसरा विकसित प्रफुल्लित हो जाना। अशोक और विबोध शब्द के इसी श्लेष अलंकार के द्वारा आचार्य जी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। आचार्य जी कहते हैं कि हे भगवन् ! जब आपके पास रहने वाला वृक्ष भी अशोक होता है, तब आपके श्री चरणों का सेवक मनुष्य अशोक (शोक रहित) हो जाए, सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त हो जाए तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है ! मनुष्य तो विशेष जागृत प्राणी है, उस पर तो आप का प्रभाव स्पष्टतः पड़ना ही चाहिए। आपकी महिमा तो सूर्य के समान है। जब प्रातःकाल सर्य उदय होता है, तब

केवल मनुष्य ही नही विबोध=जागरण पाते हैं; अपितु कमल आदि स्थावर जीव भी विबोध=विकाश को प्राप्त हो जाते हैं। महापुरुषों का प्रभाव वस्तुतः अलौकिक होता है।

यह अशोक वृक्ष प्रातिहार्य का वर्णन है।

चित्रं विभो ! कथमवाङ्मुख वृन्तमेव
विष्वक् पतत्यविरला सुर पुष्प वृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश !
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥२०॥

हे भगवन् ! महान् आश्चर्य है कि आपके समवसरण में देवताओं द्वारा सब ओर की जाने वाली अविरल पुष्प वर्षा के पुष्प सबके सब नीचे की ओर डंठल किए ऊर्ध्वमुखी ही पड़ते हैं। एक भी ऐसा पुष्प नहीं, जो ऊपर की ओर डंठल किए अधोमुख पड़ता हो।

हां, ठीक है। मैं समझ गया। हे मुनीश। जब भी कोई सुमन आप के पास आता है तो उसके बन्धन सदा नीचे की ओर ही खिसकते हैं, कभी भी ऊपर उभर नहीं सकते।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आए सुमन शब्द के दो अर्थ हैं—एक फूल और दूसरा सु+मन= अच्छे मन वाला ज्ञानी भक्त। इसी

प्रकार बन्धन शब्द के भी दो अर्थ हैं-एक फूलों का बन्धन वृन्त= डंठल और दूसरा ज्ञानावरण आदि कर्मों का बन्धन तथा विषय-कषाय आदि का बन्धन।

आचार्य श्री ने उपर्युक्त सुमन और बन्धन शब्द के दो अर्थों को लेकर बहुत ही सुन्दर पद्धति से श्लेष अलंकार का चमत्कार बताया है। आचार्य कहते हैं कि आपके समवसरण में, धर्म देशना करने के मण्डप में, जब देवता अचित्त पुष्पों की की वर्षा करते हैं, तब सब के सब फूलों के डंठल नीचे को भूमि पर होते हैं, और पाँखुरी ऊपर को। सब लोग आश्चर्य करते हैं कि यह क्या चमत्कार है? परन्तु इस में आश्चर्य की क्या बात है? जो सु-मन अर्थात श्रद्धा भक्ति से पूर्ण अच्छे मन वाला भक्त आपके पास आता है, उसके बन्धन नीचे चले जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं! प्रभु का भक्त ज्ञानावरण आदि कर्मों के बन्धन में कैसे बँधा रह सकता है? लोग प्रश्न कर सकते हैं कि- इस बात का फूलों से क्या सम्बन्ध? जी हाँ सम्बन्ध यह है कि फूल सुमन कहलाते हैं और उनके डंठल बन्धन। बन्धन का अर्थ है बाँधने का साधन। फूल डंठल के द्वारा ही तो शाखा से बँधे रहते हैं, अतः डंठल भी बन्धन पद वाच्य हैं। अब आप समझ लीजिए। भगवान के पास आकर सु-मनों के बन्धन नीचे हो जाते हैं तो फूल भी सुमन हैं, अतः उनके बन्धन= डंठल भी नीचे को हो जायँ, इस में क्या अश्चर्य है?

यह 'पुष्प वृष्टि' प्रातिहार्य का वर्णन है।

स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परमसम्मदसंगभाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाऽप्यजरामरत्वम् ॥२१॥

हे जिनेंद्र ! आपके गम्भीर हृदय रूपी समुद्र से उत्पन्न होने वाली आपकी मधुर वाणी को ज्ञानी पुरुष जो अमृत की उपमा देते हैं, वह उचित ही है।

क्योंकि जिस प्रकार मनुष्य अमृत का पान कर अजर-अमर हो जाते हैं, उसी प्रकार भव्य प्राणी भी आपके वचनामृत का पान कर शीघ्र ही परमानन्द से युक्त होकर अजर - अमर हो जाते हैं। जन्म, जरा-मरण के दुःखों से छूट कर सदा काल के लिए सच्चिदानन्द सिद्ध हो जाते हैं।

टिप्पणी

भगवान् की वाणी को भक्त जनता सदा से अमृत की उपमा देती आई है। आचार्य श्री ने उस उपमा को प्रस्तुत श्लोक में बहुत सुन्दर ढंग से घटाया है।

पौराणिक जन–श्रुति है कि अमृत बहुत गहरे सागर से उत्पन्न हुआ था। इसके लिए समुद्र-मन्थन का आख्यान पढ़ना चाहिये। हाँ तो भगवान् की वाणी किस समुद्र से उत्पन्न हुई ? जिन-वाणी भगवान के हृदय रूपी गंभीर समुद्र से उत्पन्न हुई है। भगवान्

का हृदय साधारण छिछला हृदय नहीं है, वह अनन्त गंभीर समुद्र है। भगवान् पर कमठ आदि दैत्यों के अनेकानेक भयंकर उपसर्ग पड़े, परन्तु भगवान् का हृदय जरा भी क्षुब्ध नहीं हुआ, यही गंभीरता का सब से बड़ा प्रमाण है।

किंवदन्ती है कि अमृत को पीने वाला प्राणी अमर हो जाता है, न उसे कभी बुढापा आता है और न वह कभी मरता ही है। अमृत के लिए तो यह केवल कल्पना ही है परन्तु भगवान् की वाणी का पान करने वाला भक्त तो वास्तव में अजर-अमर हो जाता है, मुक्त हो जाता है। मोक्ष पाने के बाद न जरा है, न मरण। वहाँ आत्मा सदा एकरस रहता है। संस्कृत साहित्य में श्रवण के अर्थ में भी पान शब्द का प्रयोग होता है, अतः वाणी का सुनना भी पीना ही है।

यह 'दिव्य ध्वनि' प्रातिहार्य का वर्णन है।

स्वामिन् ! सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनि—पुङ्गवाय
ते नून मूर्ध्वगतयः खलु शुद्ध—भावाः ॥ २२ ॥

हे भगवन् ! देवताओं द्वारा ढुलाए जाने वाले पवित्र श्वेत चँवर, आप के प्रति काफी नीचे झुककर पुनः रहस्य पूर्ण ढंग से जनता को मौन सूचना देते हुए ऊपर की ओर उठते हैं।

क्या मौन सूचना देते हैं ? यह सूचना देते हैं कि जो भी व्यक्ति इस संसार के सर्वश्रेष्ठ महामुनि को भक्तिनम्र होकर नमस्कार करते हैं, वे निश्चय ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त कर ऊर्ध्वगति = मोक्ष में जाते हैं ।

टिप्पणी

भगवान् के दोनों ओर देवता पूर्ण श्वेत चँवर ढोरते हैं । ढुरते समय चँवर पहले नीचे की ओर झुकते हैं, और बाद में ऊपर की ओर जाते हैं । आचार्य श्री ने इसी साधारण सी बात पर उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा अतीव अनूठे भावोंकी अवतरणा की है । आचार्य कहते हैं-श्वेत चँवर नीचे झुक कर पुनः प्रभुके दिव्य शरीर से निकलने वाली उज्वल किरणोंसे चमकतेहुए ऊपर उठते हैं तो दर्शक जनता को मौन संकेत करते हैं कि भगवान् को झुक कर नमस्कार करने वाले भक्त हमारे समान ही श्वेत निर्मल होकर ऊपर मोक्ष में जाते हैं ।

यह 'चामर' प्रातिहार्य का वर्णन है ।

श्यामं गभीर—गिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम् ।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥२३॥

हे प्रभो ! जब आप रत्नों से जड़े हुए उज्ज्वल सोने के सिंहासन पर विराजमान होते हैं और गंभीर वाणी के द्वारा धर्म देशना करते हैं, तब भव्य प्राणी रूप मयूर, श्याम वर्ण वाले आप को बहुत ही उत्सुक हो कर इस प्रकार देखते हैं, मानो सुवर्णमय सुमेरु पर्वत के शिखर पर वर्षा कालीन श्याम मेघ घुमड़ रहा हो, जोर से गर्ज रहा हो !

टिप्पणी

काले मेघों को घुमड़ते हुए देख कर मोर बड़े ही आनन्दित होते हैं, इस साधारण लोक - घटना पर उपमा अलंकार का कितना सुन्दर चित्रण किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ का वर्ण श्याम था। अतः जब वे स्वर्ण-सिंहासन पर बैठ कर अतीव गम्भीर भाषा में धर्मोपदेश करते थे, तब प्रभु के दर्शन पाकर भव्य जीवों को अत्यन्त आनन्द होता था, उनका मन मयूर की तरह हर्षोन्मत्त होकर नाचने लगता था।

स्वर्ण सिंहासन को स्वर्णमय मेरु पवत की, भगवान् को श्याम मेघ की, दिव्य ध्वनि को गर्जना की, और भव्य प्राणियों को मयूर की उपमा देकर पूर्णोपमा का चित्र खींचा गया है।

यह सिंहासन प्रातिहार्य का वर्णन है।

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव ।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग !
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि ॥ २४ ॥

हे नाथ ! आप के दिव्य शरीर से ऊपर की ओर निकलने वाली किरणों के नील प्रभा-मण्डल से अशोक वृक्ष के लाल पत्ते भी अपनी राग=रक्तच्छवि से रहित हो जाते हैं।

हे वीतराग ! आप की वाणी सुनना और आप का ध्यान करना तो महत्त्व की चीज है ही, परन्तु यहाँ तो आप के पास रहने मात्र से कौन ऐसा सचेतन प्राणी है, जो वीतराग=राग रहित नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है।

टिप्पणी

जो जिसके पास रहता है, वह वैसा ही बन जाता है। रागी का सेवक रागी होता है; और वीतराग का सेवक वीतराग। भगवान् की उपासना करने वाला भी वीतराग बन जाता है। इस बात को लेकर आचार्य श्री ने अपने कवित्व का बड़ा भावपूर्ण चित्र उपस्थित किया है।

राग शब्द के दो अर्थ हैं-एक लाल रंग और दूसरा मोह। राग शब्द से विरोधी सम्बन्ध रखने वाले वीतराग शब्द के भी

दो अर्थ हैं—एक लाल रंग से रहित और दूसरे मोह से रहित। इन्हीं दो अर्थों पर बहुत सुन्दर श्लोक का भवन खड़ा किया गया है।

आचार्य श्री अशोक वृक्ष पर वीतरागत्व घटित करते हुए कहते हैं कि—भगवान् के सत्संग के प्रभाव से आशोक वृक्ष भी वीतराग बन जाता था, किस प्रकार बन जाता था ? भगवान् का शरीर नील अर्थात श्याम वर्ण का था। अतः उनके दिव्य शरीर से निकलने वाला प्रभा-मण्डल भी नील ही होता था। उधर अशोक वृक्ष के पत्ते लालिमा लिए हुए होते थे। परन्तु ज्यों ही भगवान् के दिव्य शरीर से निकलने वाला किरणों का नील प्रभा-मण्डल ऊपर अशोक वृक्ष के पत्तों पर आलोकित होता था, त्यों ही उनके लाल रंग को अभिभूत कर लेता था, दबा लेता था। अतः वे वीतराग=लाल रंग से रहित हो जाते थे। भाव यह है कि भगवान् जब अशोक वृक्ष के नीचे बैठते थे तो वह प्रभा-मण्डल के कारण लाल नहीं रहता था, नीला हो जाता था।

भगवान् का सत्संग बड़ा अलौकिक चमत्कार रखता है। भगवान् के वचनामृत श्रवण करना और वार्तालाप आदि करना तो दूर की बात है, उनके चमत्कार का तो कहना ही क्या ? प्रभु के सान्निध्यमात्र से राग भाव दूर हो जाता है। जो भी साधक प्रभु के चरणों में आया, संसार का राग भाव त्याग

कर वीतराग बन गया। वीतराग के पास आकर भला कौन वीतराग नहीं हो जाता ?

आचार्य जी का गंभीर अभिप्राय यह है कि भगवान् के पास रहकर अशोक वृक्ष वीतराग कैसे हो गया ? यह क्या आश्चर्य की बात है ? वह अशोक वृक्ष तो अचेतन था, यदि वह राग छोड़ कर वीत राग बन गया तो क्या हुआ ? भगवान के पास आकर तो बड़े-बड़े सचेतन तार्किक भी अपना मत पन्थ आदि का एवं सांसारिक वासनाओं का राग त्याग कर, वीतराग भाव की उपासना करने लगते हैं, वैराग्य-भाव धारण कर लेते हैं। सचेतन को समझाना कठिन है। अचेतन को तो हर कोई बदल सकता है। सचेतन को केवल ज्ञानी ही बदल सकते हैं।

यह 'भा-मण्डल' प्रातिहार्य का वर्णन है।

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन—
मागत्य निर्वृ तिपुरीं प्रति सार्थवाहम् ।
एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥

हे देव ! आकाश में सब ओर गर्जन करती हुई देव-दुन्दुभि तीन जगत को इस प्रकार सूचना देती है कि—

'ये भगवान् पार्श्वनाथ मोक्षपुरी को जाने वाले सार्थवाह हैं, सरदार हैं; अतएव हे मोक्षपुरी की यात्रा करने वाले मुमुक्षु

यात्रियो ! आलस्य त्याग कर शीघ्र ही इन की सेवा में आकर उपस्थित होओ !'

टिप्पणी

दुन्दुभि का शब्द ध्वनि मात्र है, भाषा नहीं है। अतएव वह केवल बजती है, बोलती नहीं है। परन्तु आचार्य जी की विलक्षण प्रतिभा ने बजने में भी बोलने की उत्प्रेक्षा की है। दुन्दुभी बजती हुई क्या बोलती है? यह श्लोक में कहा जा चुका है।

यह 'दुन्दुभि' प्रातिहार्य का वर्णन है।

उद्द्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ !
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः।
मुक्ताकलाप - कलितोल्लसितातपत्र—
व्याजात् त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥२६॥

हे नाथ ! जब आपने अपने दिव्य ज्ञान के प्रकाश से तीन जगत को उद्द्योतित=प्रकाशित कर दिया, तब बेचारे चन्द्रमा का प्रकाशकर्तृत्व रूप अपना अधिकार छिन गया।

अब चन्द्रमा क्या करता ? वह तारा मण्डल को साथ लेकर मोतियों के समूह से युक्त एवं सुशोभित तीन श्वेत छत्रों के रूप में तीन शरीर बनाकर, आपकी सेवा में ही उपस्थित होगया है।

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् के मस्तक पर देवताओं द्वारा तीन छत्र लगाए जाते हैं। ये छत्र श्वेत वर्ण के तथा चारों ओर मोतियों की झालर से युक्त होते हैं। यह भगवान् का 'छत्रत्रय' प्रातिहार्य माना जाता है।

आचार्य श्री का भक्तिरस से परिपूर्ण हृदय उक्त तीन छत्रों के सम्बन्ध में कितनी सुन्दर कल्पना करता है, यह आप मूल श्लोक में देख चुके हैं। फिर भी विशेष स्पष्टीकरण के रूप में कुछ थोड़ा सा और लिख देना अप्रासंगिक न होगा।

आचार्य श्री के कथन का यह भाव है कि भगवान् के मस्तक पर जो ये तीन छत्र दिखाई देते हैं, वस्तुतः ये छत्र नहीं हैं। यह तो चन्द्रमा है, जो तीन रूप बनाकर भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ है।

चन्द्रमा क्यों किसलिए उपस्थित हुआ है? इसके उत्तर में आचार्य श्री का कहना है कि चन्द्रमा का अपना अधिकार प्रकाश करने का है। वह सदा से आकाश में रहकर संसार को प्रकाशित करता आया है। परन्तु भगवान ने जब अपने केवल ज्ञान के प्रकाश से सम्पूर्ण त्रिभुवन को प्रकाशित कर दिया, तब चन्द्रमा का क्या अधिकार रहा? वह बेचारा अपने परंपरागत अधिकार से भ्रष्ट कर दिया गया। अतएव वह अपना अधिकार मांगने प्रभु की सेवा में तीन छत्रों का रूप बना कर आया है। छत्रों के चारों ओर झालर के रूप में जो मोती दिखाई

देते हैं, वे मोती नहीं है, प्रत्युत चन्द्रमा के परिवार स्वरूप तारा-गण हैं। वे भी चन्द्रमा के साथ प्रार्थना करने आए हैं। तीन रूप मन, वचन और शरीर की त्रिधा भक्ति के सूचक हैं।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में जो 'कलितोल्लसितात पत्र' है, उसके स्थान में 'कलितोच्छ्वसितात पत्र' पाठान्तर भी बोला जाता है। 'यह छत्रत्रय' प्रातिहार्य का वर्णन है।

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रय- पिण्डितेन
कान्ति - प्रताप - यशसामिव सञ्चयेन।
माणिक्य-हेम - रजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥२७॥

हे भगवन्! आप अपने चारों ओर माणिक्य, सुवर्ण और रजत के बने हुए तीन कोटों से बहुत ही सुन्दर मालूम होते हो।

ये तीन कोट क्या हैं? मानो आपके शरीर की कान्ति, आपका प्रताप और आप का यश ही तीन जगत में सर्वत्र फैलने के बाद आगे स्थान न मिलने के कारण आपके चारों ओर तीन कोट के रूप में पिण्डीभूत हो गया है, इकट्ठा हो गया है।

टिप्पणी

तीर्थंकर भगवान् का जहाँ विराजना होता है, वहाँ भगवान् के चारों ओर देवता एक के बाद एक, तीन कोट का निर्माण

करते हैं। तीन कोटों में से पहला कोट नीलमणि=नीलम का, दूसरा सुवर्ण=सोने का और तीसरा रजत=चाँदी का होता है।

आचार्य श्री उपर्युक्त तीन कोटों के सम्बन्ध में कविता की उड़ान भरते हैं कि ये तीन कोट वस्तुतः नीलमणि, सुवर्ण आदि नहीं हैं, अपितु भगवान् के दिव्य शरीर की कांति, भगवान का प्रताप और यश ही समूह रूप में एकत्र हो गया है। क्यों एकत्र हो गया है ? इसका उत्तर यह है कि—भगवान् की कान्ति, प्रताप और यश तीन लोक में सर्वत्र फैल गए। कहीं भी ऐसा स्थान नहीं रहा, जहाँ भगवान की कान्ति, प्रताप आदि न पहुँचें हों। तीन लोक से बाहर फैलने के लिए स्थान ही नहीं है, क्योंकि आगे अलोक है। अतः कान्ति और प्रताप आदि स्थानाभाव के कारण भगवान् के चारों ओर समूह के रूप में एकत्र हो गए। जिस पदार्थ को फैलने के लिए स्थान न मिलेगा, वह अवश्य ही इकट्ठा होना शुरू हो जायगा।

भगवान् के शरीर की कान्ति नीलवर्ण की है अतः वह नीलमणि का, प्रताप का वर्ण अग्नि के समान दीप्त है, अतः वह सुवर्ण का, और यश का वर्ण श्वेत माना जाता है, अतः वह रजत का दुर्ग प्रतिभासित होता है।

प्रस्तुत कल्पना के द्वारा आचार्य भगवान् के यश आदि को अनन्त बताना चाहते हैं। उन का अभिप्राय यह है कि भगवान् की कान्ति, प्रताप और यश इतना महान है, जो संपूर्ण तीन

लोक में भर जाने के बाद भी समाप्त न हो सका, फलतः पिण्डी-भूत हो गया।

दिव्यस्रजो जिन ! नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वा परत्र
त्वत्संगमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥

हे नाथ ! जब स्वर्ग के इन्द्र आपको नमस्कार करते हैं, तो उनकी दिव्य पुष्प-मालाएँ रत्नजटित मुकुटों का भी परित्याग कर झटपट आप के श्री चरणों का आश्रय ले लेती हैं ।

पुष्प-मालाओं का यह कार्य बिल्कुल उचित ही है; क्योंकि श्री चरणों का आश्रय मिल जाने के बाद सुमनों (ज्ञानी पुरुषों) को अन्यत्र कहीं पर सन्तोष ही नहीं मिलता ।

टिप्पणी

भगवान को नमस्कार करते समय इन्द्रों के मुकुटों में लगी हुई फूल-मालाएँ प्रभु के चरणों में आ गिरती हैं, यह कोई असाधारण बात नहीं है। जब इन्द्र नमस्कार करने के लिए मस्तक झुकाते हैं, तो फूल मालाएँ नीचे गिर ही जानी चाहिएँ । परन्तु आचार्य श्री इस साधारण सी घटना को भी असाधारण के चित्र में उतार रहे हैं। आपका कहना है कि फूल मालाएँ

रत्नों से जड़े हुए स्वर्ण मुकुटों को छोड़ कर प्रभु के चरणों में क्यों आ गिरती हैं, उन्हें मुकुट जैसे सुन्दर स्थान पर रहना क्यों नहीं पसन्द आता है ? उत्तर है कि फूल सुमन हैं। और जो सुमन हैं, उनका प्रभु के चरणों में अगाध प्रेम होता है, अतः वे अन्यत्र कहीं सन्तुष्ट ही नहीं रह सकते ।

श्लोक में आए हुए सुमन शब्द के दो अर्थ हैं—एक पुष्प और दूसरा ज्ञानी पुरुष = सज्जन पुरुष । सुमन = ज्ञानी प्रभु के चरणों से प्रेम करते ही हैं, अतः नाम साम्य से सुमन = फूल भी प्रभु के चरणों से प्रेम करते हैं।

कविता की इतनी लंबी उड़ान का गूढ़ भाव यह है कि प्रभु के चरणों में साधारण जनता तो क्या बड़े-बड़े इन्द्र आदि देव भी नमस्कार करते हैं। वह नमस्कार भी कुछ साधारण नहीं होता, प्रत्युत श्रद्धा - भक्ति के साथ इतना झुक कर होता है कि मुकुटों पर शोभा के लिए डाली हुई फूल मालाएँ भी प्रभु के चरणों में आ पड़ती हैं।

त्वं नाथ ! जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान् ।
युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो ! यदसि कर्मविपाकशून्यः ॥२६॥

हे नाथ ! संसार-समुद्र से सर्वथा पराङ्मुख = प्रति कूल होते हुए भी आप अपने पृष्ठाश्रित-अनुयायी भक्तों को पार उतार देते

हैं, यह युक्त ही है, क्योंकि आप पार्थिवनिप=विश्व के ज्ञानी हैं, अस्तु पार्थिव निप (मिट्टी के घड़े) का स्वभाव ही ऐसा हैकि वह जल की ओर अधो मुख रह कर भी अपनी पीठ पर ठहरे हुओं को पार उतार देता है।

परन्तु इसमें एक महान आश्चर्य है! वह यह कि पार्थिवनिप (घड़ा) तो विपाक सहित होता है, और आप कर्म-विपाक से रहित हैं।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक का भाव अतीव गंभीर है। पार्थिव निप और कर्म विपाक श्लेष का श्लोक जब तक अच्छी तरह समझ में न आए, तब तक किसी भी प्रकार श्लेष का भाव हृदयंगम नहीं हो सकता।

पार्थिव निप शब्द के दो अर्थ हैं-मिट्टी का घड़ा, पार्थिव=मिट्टी का और निप=घड़ा। दूसरा अर्थ है-पृथ्वी के सर्व श्रेष्ठ ज्ञानी, पार्थिव=पृथ्वी का और निप=ज्ञानी। भगवत्पक्ष में पार्थिव-निप का अर्थ विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी लिया जाता है, और उधर मिट्टी का घड़ा।

कर्म विपाक शब्द के भी दो अर्थ हैं। एक अर्थ है कुम्हार के अपने कर्म का विपाक, अर्थात् घड़े को आग में पकाना। और दूसरा अर्थ है-कर्मों का फल अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों का फल, अर्थात ज्ञानावरण आदि कर्मों का उदय। पहला अर्थ घड़े में घटित होता है और दूसरा भगवान् में।

अब ज़रा भावार्थ पर विचार कीजिए। भगवान् सांसारिक मोहमाया के न होने से वीतराग हैं अतः संसार से पराङ्मुख हैं, मुख मोड़े हुए हैं। परन्तु जिस प्रकार मिट्टी का घड़ा जल में अधोमुख रह कर भी अपनी पीठ पर स्थित लोगों को नदी आदि से पार उतार देता है, उसी प्रकार भगवान् संसार-समुद्र से पराङ् मुख रह कर भी अपनी पीठ पर लगे हुए लोगों को, अर्थात् जिस ज्ञान, दर्शन, चारित्र के पथ पर चल कर भगवान मोक्ष में गए हैं, उसी मार्ग के अनुसरण करने वाले अपने भक्त अनुयायियों को पार उतार देते हैं, मोक्ष में पहुँचा देते हैं। पराङ् मुख रह कर कैसे पहुँचा देते हैं ? इसका उत्तर यह है कि—भगवान् पार्थिव निप हैं। अतः पार्थिव निप का कार्य कर देते हैं। पार्थिव निप का अर्थ मिट्टी का घड़ा है, परन्तु भगवान तो पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी होने के नाते पार्थिव निप हैं। किसी भी तरह हों, नामसाम्य है। अतः नाम के अनुसार कार्य करना ही होता है। ज्ञानी पुरुष संसार से प्रतिकूल रह कर ही अपने पिछलग्गुओं को पार उतारते हैं, इसी प्रकार घड़ा भी।

यह सब तो ठीक हो गया। परन्तु एक अन्तर है। वह यह कि मिट्टी का घड़ा तो अग्नि में पका हुआ होने पर ही पानी में तैर कर दूसरों को पार उतारता है, कच्चा घड़ा तो जल का स्पर्श होते ही, दूसरों को पार करना तो दूर रहा, खुद अपना अस्तित्व भी खो बैठता है, पानी में गल कर घुल जाता है। हाँ तो आश्चर्य की बात यह है कि भगवान् पार्थिव निप का कार्य तो करते हैं,

परन्तु उसके समान कर्म-विपाक से युक्त नहीं, प्रत्युत रहित हैं। विपाक से रहित होकर पार्थिव निप भगवान् कैसे दूसरों को पार उतारते हैं? यही तो आश्चर्य है! प्रभु तेरी लीला!

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक ! दुर्गतस्त्वं
किं वाक्षर - प्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश ।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथञ्चिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकाशहेतु ॥३०॥

हे जनप्रतिपालक ! आप अखिल विश्व के ईश्वर होते हुए भी दुर्गत हैं = संसारी जीवों को प्राप्त होने दुर्लभ हैं अथवा दुर्ज्ञेय हैं। हे नाथ ! आप अक्षर प्रकृति = नित्य स्वभाव से युक्त होते हुए भी अलिपि हैं, कर्मलेप से रहित हैं। हे प्रभो ! आप अज्ञानवत् = अज्ञ प्राणियों के संरक्षक हैं, तथापि आप में त्रिभुवन को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान सदा प्रकाशमान रहता है।

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में विरोधाभास अलंकार है। विरोधाभास वह अलंकार होता है, जहाँ विरोध तो न हो, किन्तु आपाततः विरोध प्रतिभासित होता हो। अर्थात् शब्दों को सुनते समय तो विरोध मालूम होता हो, किन्तु अर्थ का विचार करने पर उसका परिहार हो जाता हो।

उपर्युक्त पद्य में तीन स्थान पर विरोधाभास है। प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि 'हे प्रभो ! आप विश्व के स्वामी

हैं तथापि दुर्गत हैं।' दुर्गत दरिद्र को कहते हैं। भला जो विश्व का स्वामी है वह दरिद्र कैसे ? और जो दरिद्र है वह विश्व का स्वामी कैसे ? परस्पर विरोध है। उक्त विरोध का परिहार दुर्गत का दुर्लभ अथवा दुर्ज्ञेय अर्थ करने से हो जाता है। भगवान् का स्वरूप संसार की वासनाओं में फँसे रहने वाले जीवों को प्राप्त होना दुर्लभ है। अथवा संसारी जीव भगवान् के स्वरूप को कठिनता से जान पाते हैं, अतः भगवान् दुर्गत हैं, दुर्ज्ञेय हैं।

दूसरी पंक्ति में कहा गया है कि 'हे नाथ ! आप अक्षर-प्रकृति हैं तथापि अलिपि हैं।' भला जो अक्षर की प्रकृति अर्थात् स्वभाव रखता है, वह अलिपि कैसे रह सकता है ? जो क ख आदि अक्षरों जैसा है, वह लिखा क्यों न जायगा ? यह विरोध है। इसका परिहार इस प्रकार है कि—भगवान इधर अक्षर अर्थात् अविनाशी स्वभाव वाले हैं और उधर अलिपि=कर्म लेप से रहित हैं, अथवा लिपि=शरीर से रहित हैं। मोक्ष में न शरीर रहता है, और न कर्म का लेप ही। अब कुछ भी विरोध न रहा।

तीसरी और चौथी पंक्ति में कहा गया है 'कि आप अज्ञानवत् हैं, अज्ञानवान् हैं, तथापि आप में विश्व विकाशी ज्ञान स्फुरित होता है।' भला जो अज्ञानवान् है, उस में विश्वविकाशी ज्ञान कैसे स्फुरायमाण होगा ? यह विरोध है। परिहार के लिए अज्ञानवत् का अर्थ बदलना होगा। अज्ञानवत् का अर्थ है-अज्ञ प्राणियों की रक्षा करने वाला। संस्कृत व्याकरण के अनु-

सार पदच्छेद कीजिए-'अज्ञान् × अवति'। अव धातु का अर्थ रक्षा करना है। अज्ञान् द्वितीया विभक्ति का बहु वचन है। अवति सप्तमी विभक्ति का एक वचन है, जो श्लोक में त्वयि के साथ सम्बन्ध रखता है। जो अज्ञों का रक्षण करता है, वह अवश्य ही विश्वविकाशक ज्ञानी होगा। अब क्या विरोध रहा ?

प्राग्भारसंभृत-नभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायाऽपि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥

हे नाथ ! दुष्ट कमठ ने क्रुद्ध होकर आप पर पहले बड़ी भीषण धूल की वर्षा की थी, ऐसी वर्षा कि जिस के समूह से समग्र आकाश भर गया था। परन्तु उससे आप का कुछ भी न बिगड़ा। और तो क्या आप की छाया भी मलिन न हुई। प्रत्युत उस धूल से वह हताश दुरात्मा स्वयं ही ग्रस्त हो गया, मलिन होगया।

टिप्पणी

भगवान् पार्श्वनाथ जब राजकुमार थे, तब कमठ तापस को अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था और नाग-नागनी को जलने से बचायाथा। बाद में कमठ देव बन गया और पार्श्वनाथ जी दीक्षा लेकर मुनि बन गए। कमठ दैत्य ने क्रुद्ध होकर उस समय

भगवान् पर भयंकर उपसर्ग किया । प्रस्तुत श्लोक में इसी घटना का चित्रण किया गया है ।

आचार्य कहते हैं कि भगवान् पर कमठ ने धूल की वर्षा की तो इससे वही कर्मों की धूल से मलिन हुआ, भगवान तो अध्यात्मभाव में लीन रहने के कारण निर्मल ही रहे । संसार में देखा जाता है कि जो मूर्ख सूर्य पर धूल फेंकता है, उस से सूर्य की कांति तो जरा भी मलिन नहीं होती, प्रत्युत वह धूल वापस फेंकने वाले के मुख पर ही आ पड़ती है ।

रज शब्द के दो अर्थ हैं—एक धूल और दूसरा कर्म । भगवान् पर धूल डाली तो कमठ पर कर्म की धूल पड़ी ।

यद्गर्जदूर्जित—घनौघमदभ्रभीमं
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तर—वारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥३२॥

हे जिनेश्वर देव ! कमठ दैत्य ने आप पर बड़ी भयंकर जल-वर्षा की, ऐसी वर्षा कि जिस में बड़े-बड़े विशाल मेघ-समूह गर्ज रहे थे, बिजलियां गिर रही थीं, मूसल के समान बड़ी मोटी-मोटी जल धाराएँ बरस रही थीं, जो अत्यन्त डरावनी मालूम होती थीं, और जिस का अथाह जल तैर कर भी पार करना कठिन था ।

परन्तु उस वर्षा से आप की कुछ भी हानि न हुई। प्रत्युत वह उस कमठ के लिए दुष्ट तलवार का काम कर गई, घायल कर गई।

टिप्पणी

श्लोक में आए हुए 'दुस्तरवारि कृत्यं, शब्द का अर्थ है- दुष्ट तलवार का कार्य। जिस प्रकार खराब तलवार चलाने वाले को ही घायल कर देती है, दूसरे का कुछ बिगाड़ नहीं पाती है, उसी प्रकार कमठ की जल वर्षा ने भी भगवान का कुछ नहीं बिगाड़ा; प्रत्युत उस को ही कर्मों की मार से घायल कर दिया।

श्लोक में 'दुस्तर वारि' शब्द दो बार आया है। पहले का अर्थ है—कठिनाई से तरने योग्य जल, दुस्तर + वारि। दूसरे का अर्थ है—खराब तलवार, दुस + तरवारि।

ध्वस्तोर्ध्वकेश-विकृताकृति-मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्-भयद—वक्त्रविनिर्यदग्निः।
प्रेतव्रजः प्रतिभवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः॥ ३३॥

हे भगवन्! दुष्ट कमठासुर ने आप को पथ-भ्रष्ट करने के लिए अत्यन्त निर्दय पिशाचों के दलभी भेजे। कैसे थे वे पिशाच ?

जिन के गले में बिखरे केशों और भद्दी आकृति वाले नर मुण्डों की मालाएँ पड़ी हुई थीं और जो अपने भयानक मुख से आग उगल रहे थे।

परन्तु हे प्रभो ! वे भयंकर पिशाच आप पर कुछ भी प्रभाव न डाल सके। प्रत्युत वे उसी कमठ के लिए प्रत्येक भव में भयंकर दुःखों के कारण बने।

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य-
मारधयन्ति विधिवद् विधुतान्यकृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्पुलक - पक्ष्मलदेहदेशाः
पादद्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ॥३४॥

हे त्रिभुवन के स्वामी ! संसार में वे ही प्राणी धन्य हैं, आप की भक्ति के कारण जिन के शरीर का रोम-रोम उल्लसित एवं पुलकित हो जाता है, और जो दूसरे सब काम छोड़ कर आप के चरण कमलों की विधिपूर्वक त्रिकाल उपासना करते हैं।

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमंत्रे
किं वा विपद् विषधरी सविधं समेति ॥३५॥

हे मुनीन्द्र ! इस अपार संसार - सागर में परिभ्रमण करते हुए अनन्त काल हो गया, परन्तु मालूम होता है आप का पवित्र नाम कभी भी श्रुतिगोचर नहीं हुआ।

क्यों कि यदि कभी आप के नाम का पवित्र मंत्र सुनने में आया होता, तो फिर क्या यह विपत्ति रूपी काली नागन मेरे पास आती ? कभी नहीं।

टिप्पणी

कार्य से कारण का पता चलता है। जैसा कार्य होगा उसी के अनुसार कारण होगा। आचार्य जी कहते हैं कि 'भगवन् ! मैं दुःख की नागनो से डसा जारहा हूँ, इस पर से पता चलता है कि मैंने कभी आप की उपासना नहीं की, आप का पवित्र नाम नहीं सुना। यदि उपासना की होती, तो यह दुःख न भोगना पड़ता।' प्रभु को भुला देना ही दुःख का कारण है। और प्रभु को स्मृति में रखना ही सुख का कारण है।

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव !
मन्ये मया महितमीहितदान—दक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश ! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥३६॥

हे देव ! मैं निश्चित रूप से यह समझ गया हूँ कि मैंने जन्मान्तर में भी कभी अभीष्ट फल प्रदान करने में पूर्णतया समर्थ आप के चरण कमलों की उपासना नहीं की।

हे मुनीश ! यही कारण है कि मैं इस जन्म में हृदय को दलन करने वाले असह्य तिरस्कारों का केन्द्र बन गया हूँ। आप के चरणों का पुजारी तो कभी तिरस्कृत नहीं होता।

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्ध—गतयः कथमन्यथैते ॥३७॥

हे प्रभो ! मेरी आंखों पर मिथ्यात्व मोह का गहरा अँधेरा छाया रहा, फलतः मैंने पहले कभी एक बार भी आप के दर्शन नहीं किए।

यदि कभी आप के दर्शन किए होते, तो अत्यन्त तीव्र गति से विस्तार पाने वाले ये मर्मभेदी अनर्थ मुझे क्यों पीड़ित करते ? आप का भक्त और अनर्थ ! मेल ही नहीं बैठता।

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८॥

हे जनता के एक मात्र प्रिय बन्धु भगवन् ! मैंने यथावसर आप का पवित्र नाम भी सुना, उपासना भी की, और दर्शन भी

किए, बाह्य दृष्टि से सब कुछ किया; परन्तु भक्तिभाव पूर्वक कभी भी आप को अपने हृदय में धारण नहीं किया।

यही कारण है कि आज मैं अनेकानेक भयंकर दुःखों का पात्र बन रहा हूँ। प्रभु के दर्शन होने के बाद दुःख क्यों? इस लिए कि भावना रहित कोई भी क्रिया सफल नहीं होती।

टिप्पणी

प्रथम के तीन श्लोकों में बताया गया था कि 'प्रभु का नाम नहीं सुना, उपासना नहीं की और दर्शन भी नहीं किए, इसी कारण यह दुःख भोगना पड़ रहा है।' आचार्य श्री का यह कथन व्यवहार की भाषा में था। दर्शन शास्त्र की भाषा में केवल दर्शन आदि का कोई मूल्य नहीं होता। दर्शन तो क्या वर्षों तक भी यदि प्रभु-चरणों की उपासना करता रहे, तब भी कुछ परिणाम नहीं निकलता। कभी-कभी विपरीत परिणाम भी निकल पड़ते हैं। अतएव साधना का प्राण भावना है। जिस साधना और क्रिया के पीछे भावना है, भक्ति है, हृदय है, वही सफल होती है, अन्यथा नहीं। भावना-शून्य क्रिया मिथ्या आडम्बर का रूप पकड़ती है और उत्तरोत्तर दंभ और अंहकार का पोषण करने के कारण विपरीत परिणाम ही उत्पन्न करती है। इसी निश्चय नय का दृष्टिकोण, प्रस्तुत श्लोक में, स्पष्ट किया गया है।

त्वं नाथ ! दुःखिजनवत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलन–तत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

हे नाथ ! आप दुःखित जीवों के प्रतिवत्सल हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, करुणा के पवित्र धाम हैं, और जितेन्द्रिय पुरुषों में श्रेष्ठ हैं।

हे महेश ! भक्तिभाव के कारण विनम्र हुए मुझ सेवक पर अपनी दया दृष्टि कीजिए, और इस दुःख की जड़ को—उखाड़ने में शीघ्र ही तत्परता दिखाइए ।

निःसंख्यसारशरणं शरणं शरण्य–
मासाद्य सादितरिपु—प्रथितावदातम् ।
त्वत्पाद—पङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि चेद् भुवनपावन ! हा हतोऽस्मि ॥४०॥

हे भुवन पावन ! आप के चरण कमल अतुल बल के स्थान हैं, दुःखित जनों की रक्षा करने वाले हैं, शरणागतों के प्रतिपालक हैं, और कर्म शत्रुओं को नष्ट करने के कारण विश्व-विख्यात यश वाले हैं ।

परन्तु दुर्भाग्य है कि आप के इस प्रकार मङ्गलमय चरणों का अवलम्बन पाकर भी मैं ध्यान से शून्य रहा, अतएव

अभागा फलहीन रहा। भगवन् ! खेद है कि मैं तो आप के चरण कमलों को पाकर भी मारा गया !

टिप्पणी

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य श्री ने अपनी कितनी अधिक मर्म-वेदना प्रगट की है ? आज के भक्ति भावना शून्य, मात्र क्रिया काण्ड का ही मोह रखने वाले भक्तों को इस पर से कुछ शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

संसार में यदि कोई साधन के अभाव में दुःख पाता है, तो उसकी विवशता पर दया आ सकती है। परन्तु जो साधन पाकर भी उसका उचित प्रयोग न करने के कारण दुःख पाता है वह अवश्य ही निन्दा का पात्र है। प्रभु के चरण कमल विश्व का कल्याण करने वाले हैं, परन्तु दुःख है कि नादान साधक उनको पाकर भी सच्चे मन से ध्यान लगा कर उपासना नहीं कर पाता, अतएव नाना प्रकार के दुःख उठाता है। चिन्तामणि रत्न पाकर भी दरिद्रता ! वह भी अपनी ही भावना की दुर्बलता के कारण ! यह नष्ट नहीं हो जाना तो और क्या है ?

कुछ प्रतियों में 'वन्ध्योऽस्मि' के स्थान पर 'वध्योऽस्मि' पाठान्तर भी मिलता है। वध्योऽस्मि का अर्थ है कि रागादि शत्रु के द्वारा मैं वध्य हो रहा हूँ, मारा जा रहा हूँ।

देवेन्द्रवन्द्य ! विदिताखिलवस्तुसार !
संसार-तारक ! विभो ! भुवनाधिनाथ !
त्रायस्व देव ! करुणा ह्रद ! मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१॥

हे प्रभो ! आप स्वर्गाधिपति इन्द्रों द्वारा वन्दनीय हैं, सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले हैं संसारसागर से पार उतारने वाले हैं, तीन लोक के नाथ हैं। हे करुणा के सरोवर देव ! भयंकर संकटों के सागर में डूबने से मेरी रक्षा कीजिए, मुझे पवित्र बनाइए।

यद्यस्ति नाथ ! भवदंघ्रिसरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्तत–सञ्चितायाः।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य ! भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥४२॥

हे नाथ ! मैं एक अतीव निम्न श्रेणी का भक्त हूँ, मेरी भक्ति ही क्या है ? फिर भी आपके चरण कमलों की चिरकाल से संचित की हुई भक्ति का यदि कुछ भी फल हो, तो हे शरणागत-वत्सल ! जन्म जन्मान्तर में आप ही मेरे स्वामी बनें। मुझे केवल आपकी शरण ही अपेक्षित है, और कुछ नहीं।

टिप्पणी

स्तोत्र के उपसंहार में आचार्य श्री क्या प्रार्थना करते हैं, कुछ पढ़ा आपने ? न लोक-पूजा की अभिलाषा है, न स्वर्ग

आदि की ही। आचार्य श्री भक्तिरस से सने हुए शब्दों में कहते हैं कि भगवन ! मैंने आप की कुछ भी भक्ति नहीं की है। फिर भी थोड़ी बहुत जो कुछ भी कर पाया हूँ, उसका फल मैं यही चाहता हूँ कि 'तुम होहु भव भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूँ !' जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक यही परंपरा रहे। बस यह ध्यान में रखना, मैं कभी आप की भक्ति से वंचित न होने पाऊँ।

यह है विनम्रता, सरलता ! यह है निष्काम भक्ति का उज्ज्वल चित्र ! यह है स्वार्पण की दिव्य भावना !

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र !
सान्द्रोल्लसत्पुलककंचुकिताङ्गभागाः।
त्वद्‌विम्बनिर्मल-मुखाम्बुजबद्धलक्ष्या
ये संस्तवं तव विभो ! रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

जननयनकुमुदचन्द्र !
प्रभास्वराः स्वर्ग-सम्पदो भुक्त्वा।
ते विगलितमलनिचया
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

(युग्मम्)

हे जिनेन्द्र देव ! अटल श्रद्धा के द्वारा स्थिर बुद्धि वाले, प्रेमाधिक्य के कारण अतीव सघनरूप से उल्लसित हुए रोमाञ्चों

से व्याप्त अंग वाले, तथा निरन्तर आप के मुख कमल की ओर अपलक लक्ष्य रखने वाले जो भव्य प्राणी, आप की विधि पूर्वक स्तुति करते हैं—आपका गुणानुवाद करते हैं—

हे भक्त जनता के नेत्र रूपी कुमुदों को विकसित=आनन्दित करने वाले विमल चन्द्र ! वे अत्यन्त रमणीय स्वर्ग सम्पदाओं को भोग कर, अन्त में कर्म मल से रहित हो जाते हैं और शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

टिप्पणी

लोग कहते हैं, भगवत्स्तुति से क्या होना जाना है ? वर्षों के वर्ष गुजर जाते हैं, कुछ भी तो लाभ नहीं होता ? परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि भगवत्स्तुति के लिए भक्त कैसा होना चाहिए ? योग्य अधिकारी के विना साधना कैसे सफल हो सकती है ? आचार्य श्री ने कल्याण मन्दिर का उपसंहार करते हुए इसी वस्तु स्थिति पर प्रकाश डाला है। प्रथम श्लोक में भव्य के विशेषण जरा ध्यान से पढने चाहिएँ। एक-एक विशेषण में भक्ति का क्षीर-सागर लहरें ले रहा है, भगवत्प्रेम का नाद गूँज रहा है। भगवान् की स्तुति करनी हो, तो नीरस एवं शुष्क हृदय से न कीजिए। जब तक तन्मयता नहीं होती है, तब तक स्तुति करने का आनन्द नहीं प्राप्त होता। भगवच्चरणों में बुद्धि को स्थिर कीजिए, उसे इधर-उधर बिलकुल मत भटकने दीजिए। और जब स्तुति करें तो हृदय प्रेम से छलकता रहना चाहिए, अधिक क्या, शरीर का अंग-अंग भगवत्प्रेम से पुलकित एवं रोमाञ्चित हो जाना चाहिए। जब यह दशा होगी, तभी भगवत्स्तुति का आनन्द मिलेगा, आत्मा का कल्याण होगा।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र भाषा

[दोहा]

परम ज्योति परमातमा, परम ज्ञान-परवीन।
वन्दूं परमानन्दमय, घट घट अन्तर लीन॥

[चौपाई १५ मात्रा]

(१)

निर्भय-करन परम परधान। भवसमुद्र-जल तारन यान॥
शिवमंदिर अघ हरन अनिंद। वंदहुँ पास चरन अरविंद॥

(२)

कमठ-मान-भंजन वर वीर। गरिमासागर गुन-गंभीर॥
सुर गुरु पार लहैं नहिं जास। मैं अजान जंपूं जस तास॥

(३)

प्रभु स्वरूप अति अगम अथाह। क्यों हम सेती होय निवाह।
ज्यों दिन अंध उलूको पोत। कहि न सकै रविकिरन-उद्योत॥

(४)

मोह-हीन जानै मन मांहि। तौहु न तुम गुण वरने जाहिं।
प्रलय पयोधि करै जल बौन। प्रगटहिं रतन गिने तिहिं कौन॥

(५)

तुम असंख्य निर्मल गुण खान। मैं मतिहीन कहूँ निज बान।
ज्यों बालक निज बांह पसार। सागर परिमित कहै विचार॥

६

जे जोगीन्द्र करहिं तप खेद। तऊ न जानहिं तुम गुन-भेद।
भक्ति-भाव मुझ मन अभिलाख। ज्यों पंछी बोलै निजभाख॥

७

तुम जस महिमा अगम अपार। नाम एक त्रिभुवन-आधार।
आवै पवन पद्म सर होय। ग्रीषम-तपन निवारै सोय॥

(८)

तुम आवत भविजन-घट मांहि। कर्मनिबंध शिथिल ह्वै जाहिं।
ज्यों चन्दन तरु बोलहिं मोर। डरहिं भुजंग लगे चहुँ ओर॥

(९)

तुम निरखत जन दीन—दयाल। संकट तैं छूटैं तत्काल।
ज्यों पशु घेर लेहिं निशि चोर। ते तज भागहिं देखत भोर॥

(१०)

तू भविजन-तारक किमि होहिं। ते चितधार तिरहि ले तोहि।
यह ऐसें कर जान स्वभाव। तिरहिं मसक ज्यों गर्भित बाव॥

(११)

जिहँ सब देख किये वश बाम। तैं छिन में जीत्यो सो काम।
ज्यों जल करै अगनिकुल-हान। बडवानल पीवै सो पान॥

(१२)

तुम अनन्त गरवा गुणलिये। क्यों कर भक्ति धरौं निज हिये।
ह्वै लघु रूप तिरहिं संसार। यह प्रभु महिमा अगम अपार॥

(१३)

क्रोध-निवार कियो मन शांत। कर्म सुभट जीते किहिं भांत।
यह पटतर देखहु संसार। नील बिरछ ज्यों दहै तुसार॥

(१४)

मुनिजन हिये कमल निज टोहि। सिद्धरूप-सम ध्यावहिं तोहि।
कमल करणिका बिन नहिं और। कमलबीज उपजन की ठौर॥

१५

जब तुम ध्यान धरै मुनि कोय। तब विदेह परमातम होय।
जैसे धातु शिलातनु त्याग। कनक स्वरूप धवो जब आग॥

(१६)

जाके मन तुम करहु निवास। विनसि जाय क्यों विग्रह तास।
ज्यों महंत बिच आवे कोय। विग्रह-मूल निवारै सोय॥

(१७)

करहिं विबुध जे आतम ध्यान। तुम-प्रभाव ते होंय निदान।
जैसे नीर सुधा अनुमान। पीवत विष विकार की हान॥

(१८)

तुम भगवंत विमल गुणलीन। समल रूप मानहिं मतिहीन।
ज्यों पीलिया रोग दृग गहै। वर्ण विवर्ण शंख सो कहै॥

[दोहा]

(१९)

निकट-रहत उपदेश सुन, तरुवर भयो अशोक।
ज्यों रवि ऊगत जीव सब, प्रगट होत भुवि लोक॥

(२०)

सुमन वृष्टि ज्यों सुर करहिं, हेट बीठ मुख सोहि।
त्यों तुम सेवत सुमन जन, बंध अधोमुख होंहि॥

(२१)

उपजी तुम हिय उदधि तें, वानी सुधा समान।
जिहँ पीवत भविजन लहहिं, अजर अमर पद थान॥

(२२)

कहहिं सार तिहुँ लोक को, ये सुर-चामर दोय।
भाव सहित जो जिन नमै, तिहँ गति ऊरध होय॥

(२३)

सिंघासन गिरि मेरु सम, प्रभु-धुनि गर्जत घोर।
श्याम सुतनु घन रूप लखि, नाचत भविजन मोर॥

(२४)

छविहत होत अशोक दल, तुम भामंडल देख।
वीतराग के निकट रह, रहत न राग विसेख॥

(२५)

सीख कहै तिहूँ लोक को, यह सुर दुंदुभि-नाद।
शिव पथ-सारथवाह जिन, भजहु तजहु परमाद॥

(२६)

तीन छत्र त्रिभुवन उदित, मुक्ता-गण छवि देत।
त्रिविध रूप धर मनहु शशि, सेवत नखत समेत॥

[पद्धरि छन्द]

(२७)

प्रभु तुम शरीर-दुति रतन-जेम।
परताप-पुंज जिम शुद्ध हेम॥
अति धवल सुजस रूपा-समान।
तिनके गढ़ तीन विराजमान॥

(२८)

सेवहिं सुरेन्द्र कर नमत भाल।
तिन सीस-मुकुट तज देहिं माल॥
तुम चरण लगत लहलहै प्रीति।
नहिं रमहिं और जन सुमन-रीति॥

(२९)

प्रभु भोग—विमुख तन कर्म दाह।
जन पार करत भव–जल निवाह॥
ज्यों माटी कलश सुपक्व होय।
ले भार अधोमुख तिरहिं तोय॥

(३०)

तुम महाराज निर्धन निराश।
तज विभव विभव सब जग-विकाश॥
अक्षर स्वभाव सुलिखै न कोय।
महिमा भगवन्त अनन्त सोय॥

(३१)

कर कोप कमठ निज वैर देख।
तिन करी धूलि वरषा विसेख ॥
प्रभु तुम छाया नहिं भई हीन।
सो भयो आप लंपट मलीन ॥

(३२)

गरजंत घोर घन अन्धकार।
चमकंत बिज्जु जल मुसलधार ॥
वरषंत कमठ धर ध्यान रुद्र।
दुस्तर करंत निज भव-समुद्र ॥

[वास्तु छन्द]

(३३)

मेघमाली मेघमाली आप बल फोरि,
भेजे तुरत पिशाच गण नाथ पास उपसर्ग कारण;
अग्नि-झाल झलकंत मुख, धुनि करत जिमि मत्तवारण !
काल रूप विकराल तन, मुंडमाल तिहँ कंठ
ह्वै निशंक वह रंक निज, करै कर्म दृढ़ गंठ।

[चौपाई १५ मात्रा]

(३४)

जे तुम चरण कमल तिहुँ काल। सेवहिं तज माया जंजाल ॥
भाव भगति मन हरष अपार। धन्य धन्य तिन जग अवतार ॥

(३६)

भवसागर में फिरत अजान । मैं तुम सुजस सुन्यों नहिं कान ॥
जो प्रभु नाम मंत्र मन धरै । तासों विपद भुजंगम डरै ॥

(३७)

मन वांछित फल जिन पद मांहि । मैं पूरब भव सेये नाहिं ॥
माया मगन फिर्यो अज्ञान । करहिं रंक जन मुझ अपमान ॥

(३८)

मोह-तिमिर छायो दृग मोहि । जन्मान्तर देख्यो नहिं तोहि ॥
तौ दुर्जन मुझ संगति गहैं । मर्म छेद के कुवचन कहैं ॥

(३९)

सुन्यो कान जस पूजे पाय । नैनन देख्यो रूप अघाय ॥
भक्ति हेतु न भयो चित चाव । दुखदायक किरिया विन भाव ॥

(४०)

महाराज शरणागत पाल । पतित-उधारन दीन-दयाल ॥
सुमरन करहुँ नाय निज शीश । मुझ दुख दूर करहु जगदीश ॥

(४१)

कर्म निकंदन महिमा सार । अशरण शरण सुजस विस्तार ॥
नहिं सेये प्रभु तुमरे पाय । तो मुझ जन्म अकारथ जाय ॥

(४२)

सुर गण-वंदित दया निधान । जग तारण जगपति अनजान ॥
दुख- सागर ते मोहि निकासि । निर्भय थान देहु सुखरासि ॥

(४३)

मैं तुम चरण कमलगुन गाय। बहु विधि भक्ति करी मन लाय॥
जन्म जन्म प्रभु पाऊँ तोहि। यह सेवा - फल दीजै मोहि॥

[दोधकान्त बेसरी छन्द]

(४४)

इहि विधि श्री भगवन्त-सुजस जे भविजन भाषहिं।
ते जिन पुण्य - भंडार संचि चिर पाप प्रणासहिं॥
रोम-रोम हुलसंत अंग प्रभु - गुण मन ध्यावहिं
स्वर्ग - संपदा भुंज वेग पंचम गति पावहिं॥
यह कल्याण मन्दिर किये,
कुमुद चन्द्र की बुद्धि।
भाषा कहत 'बनारसी'
कारण समकित - शुद्धि।

उपसर्गहर स्तोत्र

उवसग्ग-हरं पासं
पासं वंदामि कम्म-घण मुक्कं ।
विसहर विस निन्नासं
मंगल-कल्याण - आवासं ॥ १ ॥

जिन-शासन पर होने वाले उपसर्गों को दूर करने वाला पार्श्व नामक देव जिनका चरण-सेवक है, जो कर्म रूपी सघन बादलों से मुक्त होकर प्रकाशमान हैं, जिनके नाम—स्मरण मात्र से सर्प का भयंकर विष सहसा नष्ट हो जाता है, और जो मंगल तथा कल्याण के निवास स्थान हैं, उन भगवान पार्श्वनाथ स्वामी के चरणों में वन्दना करता हूँ।

विसहर - फुलिंग – मंतं
कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।
तस्स गह-रोग मारी
दुट्ठ-जरा जंति उवसामं ॥ २ ॥

सर्प के विष को उतारने के लिए भगवान् पार्श्वनाथ का पवित्र नाम ही उत्कृष्ट मन्त्र है, अतः जो मनुष्य इस नाममंत्र को

सदा अपने कंठमें धारण करता है, उसके दुष्ट ग्रह, भीषण रोग, काल ज्वर आदि सबके सब उपद्रव पूर्ण रूपसे शान्त हो जाते है।

चिट्ठउ दूरे मंतो
तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ।
नर-तिरिएसु वि जीवा
पावंति न दुक्ख-दोहग्गं ॥३॥

हे प्रभो ! आपके नाम-मंत्रका जप तो बहुत बड़ी चीज है, यहां तो केवल आपको भक्तिपूर्वक किया हुआ नमस्कार ही अमित फल का देने वाला है। जो आपका भक्त है, वह कभी भी मनुष्य, तिर्यंच आदि गतियों में दुःख और दुर्भाग्य नहीं पा सकता। वह जहां भी रहेगा, आनन्द में रहेगा।

तुह सम्मत्त लद्धे
चिंतामणि- कप्पपायव ब्भहिए।
पावंति अविग्घेणं
जीवा अयरामरं ठाणं ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमाशाली सम्यक्त्व भक्ति प्राप्त हो जाने पर साधकों को किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। वे बड़े आनन्द के साथ

बिना किसी विघ्न-बाधा के अजर-अमर मोक्ष धाम को प्राप्त कर लेते हैं।

इअ संथुओ महायस !
भत्ति-ब्भर-निब्भरेण हियएण।
ता देव ! दिज्ज बोहिं
भवे भवे पास जिणचंद ! ॥५॥

हे महा यशस्वी श्री पार्श्वनाथ जिन चन्द्रदेव ! इस प्रकार भक्ति-भावना से भरपूर भक्त हृदय के द्वारा मैंने आपकी यह स्तुति की है, अतएव जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक भव-भव में मुझे सम्यक्त्व रत्न प्रदान करना।

टिप्पणी

यह उपसर्गहर स्तोत्र आचार्य भद्र बाहु स्वामी की अमर कृति है। जैन-स्तोत्र साहित्य के सुप्रसिद्ध नव स्मरण में इस का दूसरा स्थान है। प्रथम स्मरण नवकार मंत्र है तो दूसरा उपसर्ग-हर स्तोत्र। इस पर से पाठक विचार सकते हैं, उपसर्गहर स्तोत्र का जैन साहित्य में कितना अधिक महत्वपूर्ण स्थान है।

उपसर्गहर स्तोत्र पर विविध मंत्रों का एक कल्प ग्रन्थ भी है। परन्तु उपसर्गहर का मूल मंत्र वह है जिसका उल्लेख स्तोत्र की दूसरी गाथा में 'विसहर फुलिंग मंतं' के रूप में किया है। इसी

गुप्त मंत्र का स्पष्ट उल्लेख आचार्य मानतुंग अपने नमिऊण स्तोत्र के अन्त में करते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यह मंत्र इस प्रकार है—

'नमि ऊण पास विसहर
वसह जिण फुलिंग।'

उपसर्गहर स्तोत्र और उसका उपर्युक्त बीज मंत्र बड़े ही चमत्कार पूर्ण माने जाते हैं। साधक के हृदय में श्रद्धा का बल हो, तो प्रभु का प्रत्येक नाम मंत्र है। आशा है पाठक श्रद्धा के द्वारा उपसर्गहर स्तोत्र का पाठ कर अपने को तथा अपने जीवन को सफल बनायेंगे।